सती प्रथा और जैनधर्म

—प्रो० सागरमल जैन
(निदेशक : पार्श्वनाथ विद्याश्रम, वाराणसी)

'सती' शब्द का अर्थ

'सती' की अवधारणा जैनधर्म और हिन्दूधर्म दोनों में ही पाई जाती है। दोनों में सती शब्द का प्रयोग चरित्रवान स्त्री के लिए होता है।[1] श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन परम्परा में तो आज भी साध्वी/श्रमणी को सती या महासती कहा जाता है। यद्यपि प्रारम्भ में हिन्दू परम्परा में 'सती' का तात्पर्य एक चरित्रवान या शीलवान स्त्री ही था, किन्तु आगे चलकर हिन्दू परम्परा में जबसे सती प्रथा का विकास हुआ, तब से यह 'सती' शब्द एक विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। सामान्यतया हिन्दूधर्म में 'सती' शब्द का प्रयोग उस स्त्री के लिए होता है जो अपने पति की चिता में स्वयं को जला देती है।[2] अतः हमें यह स्पष्ट रूप से समझ लेना होगा कि जैनधर्म की 'सती' की अवधारणा हिन्दू परम्परा की सतीप्रथा से पूर्णतः भिन्न है। यद्यपि जैनधर्म में 'सती' एवं 'सतीत्व' को पूर्ण सम्मान प्राप्त है किन्तु उसमें सतीप्रथा का समर्थन नहीं है।

जैनधर्म में प्रसिद्ध सोलह सतियों के कथानक उपलब्ध है और जैनधर्मानुयायी तीर्थंकरों के नाम स्मरण के साथ इनका भी प्रातःकाल नाम स्मरण करते हैं—

ब्राह्मी चन्दनबालिका, भगवती राजीमती द्रौपदी।
कौशल्या च मृगावती च सुलसा सीता सुभद्रा शिवा ॥
कुन्ती शीलवती नलस्यदयिता चूला प्रभावत्यपि।
पद्मावत्यपि सुन्दरी प्रतिदिनं कुर्वन्तु नो मंगलम् ॥[3]

इन सतियों के उल्लेख एवं जीवनवृत्त जैनागमों एवं आगमिक व्याख्या साहित्य तथा प्राचीन जैनकाव्यों एवं पुराणों में मिलते हैं।[4] किन्तु उनके जीवनवृत्तों से ज्ञात होता है कि इनमें से एक भी ऐसी नहीं है, जिसने पति की मृत्यु पर उसके साथ चिता में जलकर उसका अनुगमन किया हो, अपितु ये उन वीरांगनाओं के चरित्र हैं जिन्होंने अपने शील रक्षा हेतु कठोर संघर्ष किया और या तो साध्वी

---

१ देखें—संस्कृत-हिन्दी कोश (आप्टे) पृ० १०६२   २ देखें—हिन्दू धर्म कोश (राजबली पाण्डेय) पृ. ६४९
३ जैन सिद्धान्त बोलसंग्रह भाग ५ पृ. १८५
४ ब्राह्मी आदि इन सोलह सतियों के जीवनवृत्त किन आगमों एवं आगमिक व्याख्याओं में है, इसलिए देखें—
(अ) जैन सिद्धान्त बोल संग्रह भाग ५ पृ० ३७५
(ब) Prakrit Proper Names, part I and II
सम्बन्धित नाम के प्राकृतरूपों के आधार पर देखिये।

Jain Education International   For Private & Personal Use Only   www.jainelibrary.org

जीवन स्वीकार कर भिक्षुणी संघ में प्रविष्ट हो गईं या फिर शीलरक्षा हेतु मृत्यु अपरिहार्य होने की स्थिति में मृत्युवरण कर लिया। आगमिक व्याख्या साहित्य में दधिवाहन की पत्नी एवं चन्दना की माता धारिणी आदि कुछ ऐसी स्त्रियों के उल्लेख हैं जिन्होंने अपने सतीत्व अर्थात् शील की रक्षा के लिए देहोत्सर्ग कर दिया।[1] अतः जैनधर्म में सती स्त्री वह नहीं जो पति की मृत्यु पर उसकी चिता में जलकर उसका अनुगमन करती है अपितु वह है जो कठिन परिस्थितियों में अपनी शीलरक्षा का प्रयत्न करती है और अपने शील को खण्डित नहीं होने देती है, चाहे इस हेतु उसे देहोत्सर्ग ही क्यों न करना पड़े।

सती प्रथा के औचित्य और अनौचित्य का प्रश्न

सतीप्रथा के औचित्य और अनौचित्य का प्रश्न एक बहुचर्चित और ज्वलन्त प्रश्न के रूप में आज भी उपस्थित है। निश्चित ही यह प्रथा पुरुष-प्रधान संस्कृति का एक अभिशप्त-परिणाम है। यद्यपि इतिहास के कुछ विद्वान, इस प्रथा के प्रचलन का कारण मुस्लिमों के आक्रमणों के फलस्वरूप नारी में उत्पन्न असुरक्षा की भावना एवं उसके शील-भंग हेतु बलात्कार की प्रवृत्ति को मानते हैं, किन्तु मेरी दृष्टि में इस प्रथा के बीज और प्रकारान्तर से उसकी उपस्थिति के प्रमाण हमें अति प्राचीनकाल से ही मिलते हैं। सती प्रथा के मुख्यतः दो रूप माने जा सकते हैं, प्रथम रूप जो इस प्रथा का वीभत्स रूप है इसमें नारी को उसकी इच्छा के विपरीत पति के शव के साथ मृत्युवरण को विवश किया जाता है। दूसरा रूप वह है जिसमें पति की मृत्यु पर भावुकतावश स्त्री स्वेच्छा से पति के प्रति अपने अनन्य प्रेम के कारण मृत्यु का वरण करती है। कभी-कभी वह इसलिए भी पति की चिता पर अपना देहोत्सर्ग कर देती है कि भावी जन्म में उसे पुनः उसी पति की प्राप्ति होगी। जैनाचार्यों ने सती-प्रथा के इन रूपों को उचित नहीं माना है। किन्तु इन रूपों से भिन्न एक ऐसा भी रूप है जिसे जैनाचार्यों ने उचित माना है जिसमें स्त्री-मात्र अपने शील की रक्षा के लिए पति के जीवित रहते हुए या पति की मृत्यु के उपरान्त मृत्यु का वरण कर देहोत्सर्ग कर देती है।[2]

उपर्युक्त स्थितियों में जहाँ तक पति के स्वर्गवास के पश्चात् उसकी पत्नी को उसकी इच्छा के बिना मात्र इस विचार से कि परलोक में वह उसे उपलब्ध होगी उसके साथ दफना देने या जला देने की प्रथा का प्रश्न है, यह अति प्राचीन काल से प्रचलित रही है। मिस्र में भी इस प्रथा के प्रमाण उपलब्ध हुए हैं, यह पुरुष-प्रधान संस्कृति का सर्वाधिक घृणित रूप था, जिसमें स्त्री मात्र पुरुष के उपभोग की वस्तु थी और उसके उपभोग की अन्य वस्तुओं के समान उसे भी उसके साथ दफनाना आवश्यक माना जाता था। जहाँ तक जैनधर्म और उसके साहित्य का प्रश्न है, हमें ऐसा एक भी उदाहरण उपलब्ध नहीं है, जहाँ इस प्रथा का उल्लेख और इसे अनुमोदन प्राप्त हो। यद्यपि जैनकथा साहित्य में ऐसे उल्लेख अवश्य मिलते हैं, जिसमें एक भव के पति-पत्नी अनेक भवों तक पति-पत्नी के रूप में एक दूसरों को उपलब्ध होते रहे हैं, किन्तु किसी भी घटना में ऐसा उल्लेख मुझे देखने को नहीं मिला, जहाँ मात्र इसी प्रयोजन से स्त्री के द्वारा मृत्युवरण किया गया हो और जिसका जैनाचार्यों ने अनुमोदन किया हो। अतः सतीप्रथा का यह रूप जैनधर्म में कभी मान्य नहीं रहा।

---

१ आवश्यकचूर्णि भाग १ पृ. ३२०

२ देखें—(अ) हिन्दूधर्म कोश पृ. ६४९

(ब) धर्मशास्त्र का इतिहास (डा० काणे) भाग २ पृ. ३४८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जहाँ तक स्वेच्छा से, असुरक्षा का अनुभव करके या पति के प्रति अनन्य प्रेमवश पति की मृत्यु पर उसका सहगमन का प्रश्न है—जैन साहित्य में सर्वप्रथम निशीथचूर्णि (७ वीं शताब्दी) में हमें एक उल्लेख मिलता है, जिसके अनुसार सोपारक के एक राजा ने करापवंचन के अपराध में नगर के पाँच सौ व्यापारियों को जीवित जला देने का आदेश दिया, उनकी पत्नियाँ भी अपने पतियों का अनुसरण करते हुए जलकर मर गईं।[1] यद्यपि जिनदास गणि महत्तर इस घटना का विवरण प्रस्तुत करते हैं, किन्तु वे किसी भी रूप में इसका अनुमोदन नहीं करते हैं। यद्यपि इस कथानक से इतना अवश्य फलित होता है कि यह सतीप्रथा भारत में मुस्लिम शासकों के आक्रमण के पूर्व भी अस्तित्व में थी, वैसे हमें ७वीं शती के पूर्व निर्मित हिन्दू पौराणिक साहित्य में ऐसे उल्लेख मिलते हैं, जहाँ पत्नी-पति की मृत्यु पर उसकी चिता में जलकर सहगमन करती है।[2] अतः जैन स्रोतों से भी इतना तो निश्चित हो जाता है कि यह प्रथा मुस्लिम शासकों के पूर्व भी अपना अस्तित्व रखती थी—इतना अवश्य हुआ कि मुस्लिम शासकों के आक्रमण और नारी जाति के प्रति उनके और उनके सैनिकों के दुर्व्यवहार से नारी में असुरक्षा की भावना बढ़ती गयी एवं अपनी शील-रक्षा का प्रश्न उसके सामने गम्भीर बनता गया।[3] फलतः भारतीय मानस सतीप्रथा का समर्थन करने लगा और नारी ने पति की मृत्यु के पश्चात् दूसरों की भोगलिप्सा का शिकार होकर नारकीय जीवन जीने की अपेक्षा मृत्यु-वरण को श्रेष्ठ मान लिया।

फिर भी जैनाचार्यों ने कभी भी इस प्रथा का समर्थन नहीं किया—उनके अनुसार यदि स्त्री को पति की मृत्यु के पश्चात् मरने को विवश किया जाता है तो यह कृत्य पंचेन्द्रिय मनुष्य की हत्या का बर्बर कृत्य ही माना जायेगा अतः वह कृत्य धार्मिक या धर्मसम्मत कृत्य नहीं है अपितु महापातक ही है और मारने वाला उस पाप का दोषी है। यदि दूसरी ओर स्त्री स्वेच्छा से असुरक्षा की भावनावश या अनन्य प्रेमवश मृत्यु का वरण करती है तो उसका यह कृत्य रागयुक्त होने के कारण आत्महत्या की कोटि में जाता है, यह आत्म-हिंसा है अतः यह भी पापकर्म है। पुनः जैनधर्म की मान्यता है कि परलोक में व्यक्ति को कौनसी योनि मिलेगी यह तो उसके कर्मों (सदाचरण या दुराचरण) पर निर्भर करती है, पति की मृत्यु पर उसका सहगमन करने पर अनिवार्य रूप से पतिलोक की प्राप्ति हो, यह आवश्यक नहीं है। अतः इस भावना से कि सती होकर वह स्त्री पतिलोक को प्राप्त होगी, स्त्री का पति की चिता पर जलाया जाना या जलना जैनधर्म की दृष्टि से न तो धार्मिक है और न नैतिक ही। इसके विपरीत डा० जगदीश चन्द्र जैन की सूचनानुसार महानिशीथ (वर्तमान स्वरूप ईस्वी सन् ८वीं शती के पूर्व) में एक उल्लेख आता है कि राजा की एक विधवा कन्या सती होना चाहती थी, किन्तु उसके पितृकुल में इस प्रकार की परम्परा नहीं थी अतः उसने अपना विचार त्याग दिया।[4] इस घटना के उल्लेख से यह स्पष्ट हो जाता है,

---

१ तेसिं पंच महिलासताइं ताणि वि अग्गिं पावट्ठाणि।

—निशीथचूर्णि भाग ४ पृ० १४ —बृहद्कल्पभाष्य वृत्ति भाग ३ पृ० २०८

२ देखें—(अ) विष्णुधर्मसूत्र २५।१४ उद्धृत हिन्दूधर्मकोश पृ० ६४६

(ब) उत्तररामायण १७।१५ " " "

(स) महाभारत आदिपर्व ६५।६५ " "

(द) महाभारत मौसलपर्व ७।१८, ७।७३-८४ " "

३ देखें—हिन्दू धर्म कोश पृ. ६५०

४ महानिशीथ पृ० २६ देखें—जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज पृ. २७१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उस युग में सम्पूर्ण समाज में सती होने की परम्परा नहीं थी अपितु राजकुलों में भी केवल कुछ ही राजकुलों में ऐसी परम्परा थी।

श्री अगरचन्दजी नाहटा ने भी पट्टावलियों के आधार पर यह उल्लेख किया है कि श्री जिनदत्त सूरि (ई० सन् ११ शती) ने जब वे झुंझुणु (राज०) में थे श्रीमाल जाति की एक बालविधवा को उपदेश देकर सती होने से रोका और उसे जैनसाध्वी की दीक्षा प्रदान की।[1] इसी प्रकार १७वीं शती के सन्त आनन्दघन ने भी सती प्रथा की आलोचना करते हुए ऋषभदेव स्तवन में लिखा है कि परलोक में पति मिलेगा इस आकांक्षा से स्त्री अग्नि में जल जाती है, किन्तु यह मिलाप सम्भव नहीं होता है।[2] अतः पति की मृत्यु पर पत्नी द्वारा देहोत्सर्ग कर देना जैनधर्म में कभी भी अनुमोदित नहीं था।

किन्तु दोनों रूपों से भिन्न अपने शील की रक्षा के लिये देहोत्सर्ग कर देना सतीत्व का एक ऐसा भी रूप है जिसे जैनाचार्यों ने मान्यता दी है। उनके अनुसार चाहे पति जीवित हो या उसका स्वर्गवास हो चुका हो यदि स्त्री इस स्थिति में आ गई है कि शीलरक्षा हेतु मृत्युवरण के अतिरिक्त उसके सामने अन्य कोई विकल्प ही नहीं रह गया है, तो ऐसी स्थिति में अपने शील की रक्षा के निमित्त अपने प्राणों का उत्सर्ग कर देना ही श्रेयस्कर है। जैनाचार्य मात्र ऐसी स्थिति में ही स्त्री के मृत्युवरण को नैतिक एवं धार्मिक मानते हैं। जैनाचार्यों की दृष्टि में पतिव्रता होना स्त्री के लिये अति आवश्यक है, किन्तु पतिव्रता होने का यह अर्थ नहीं है कि वह पति की मृत्यु होने पर स्वयं भी मृत्यु का वरण करे, उनकी दृष्टि में पतिव्रता होने का अर्थ है शीलवान या चारित्रवान होना और पति की मृत्यु होने पर पूर्णरूप से ब्रह्मचर्य का पालन करना। पति की मृत्यु पर स्त्री का प्रथम कर्तव्य होता था कि वह संयमपूर्ण जीवन जीते हुए अपनी सन्तान का पालन-पोषण करे—जैसा कि राजगृही की भद्रा सार्थवाही ने किया था अथवा सन्तान के योग्य हो जाने पर चारित्र (दीक्षा) ग्रहण कर साध्वी का जीवन व्यतीत करे।[3] प्राचीन जैनाचार्यों ने सदैव ही पति की चिता पर जलने के स्थान पर श्रमणी बनने पर बल दिया। प्राचीन जैन कथा साहित्य में हमें अनेकों ऐसे कथानक मिलते हैं जहाँ स्त्रियाँ श्रमण जीवन अंगीकार कर लेती हैं। जहाँ महाभारत एवं अन्य हिन्दू पुराणों में कृष्ण की पत्नियों के सती होने के उल्लेख हैं।[4] वहाँ जैन साहित्य में उनके साध्वी होने के उल्लेख हैं।[5] हिन्दू परम्परा में सत्यभामा को छोड़कर कृष्ण की शेष पत्नियाँ सती हो जाती हैं, सत्यभामा वन में तपस्या के लिए चली जाती है, जबकि जैन परम्परा में कृष्ण की सभी पटरानियाँ श्रमणी बन जाती हैं। हिन्दू कथाओं में सीता पृथ्वी में समा जाती है, जैन कथा में लव-कुश के युवा हो जाने पर वह श्रमणी बन जाती है।[6] ये कथाएँ चाहे ऐतिहासिक दृष्टि से काल्पनिक हों किन्तु इनसे जैनाचार्यों के दृष्टिकोण का पता तो चल ही जाता है कि वे सती प्रथा के समर्थक नहीं थे।

---

१ बीकानेर जैन लेख संग्रह—भूमिका पृ० ९५ की पाद टिप्पणी

२ केई कंतकारण काष्ट भक्षण करै रे, मिलसुं कंत नै धाय।
ए मेलो नवि कइयइ सम्भवै रे, मेलो ठाम न ठाय। —आनन्दघन चौबीसी—श्री ऋषभदेव स्तवन

३ आवश्यकचूर्णि भाग १ पृ० ३७२

४ (अ) महाभारत, मौसलपर्व ७।७३-७४, विष्णुपुराण ५।३८।२
(ब) धर्मशास्त्र का इतिहास, काणे, भाग १, पृ० ३४८

५ अन्तकृतदशा के पंचम वर्ग में कृष्ण की ८ रानियों के तीर्थंकर अरिष्टनेमि के समीप दीक्षित होने का उल्लेख है।

६ पउमचरियं १०३।१९५-१९९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैनधर्म में सती प्रथा के विकसित नहीं होने के कारण

जैनधर्म में सतीप्रथा के विकसित नहीं होने का सबसे प्रमुख कारण जैनधर्म में भिक्षुणी संघ का अस्तित्व ही है। वस्तुतः पति की मृत्यु के पश्चात् किसी स्त्री के सती होने का प्रमुख मनोवैज्ञानिक कारण असुरक्षा एवं असम्मान की भावना है। जैनधर्म में पति की मृत्यु के पश्चात् स्त्री को अधिकार है कि वह सन्तान की समुचित व्यवस्था करके भिक्षुणी बनकर संघ में प्रवेश ले ले और इस प्रकार अपनी असुरक्षा की भावना को समाप्त कर दे। इसके साथ ही सामान्यतया एक विधवा हिन्दू समाज से तिरस्कृत समझी जाती थी, अतः उस तिरस्कारपूर्ण जीवन जीने की आशंका से वह पति के साथ मृत्यु का वरण करना ही उचित मानती है। जैनधर्म में कोई भी स्त्री जब भिक्षुणी बन जाती है तो वह समाज में आदरणीय बन जाती है। इस प्रकार जैनधर्म भिक्षुणी संघ की व्यवस्था करके स्त्री को पति की मृत्यु के पश्चात् भी सम्मानपूर्वक जीवन जीने का मार्ग प्रशस्त कर देता है।

स्त्री द्वारा पति की मृत्यु के पश्चात् सम्पत्ति में अधिकार न होने से आर्थिक संकट भी हिन्दू नारी की एक प्रमुख समस्या है जिससे बचने के लिए स्त्री सती होना पसन्द करती है। श्रमणी जीवन में जैन नारी सम्मानजनक रूप से भिक्षा प्राप्त करके आर्थिक संकट से भी बच जाती थी, साथ ही जैनधर्म हिन्दूधर्म के विरुद्ध सम्पत्ति पर स्त्री के अधिकार को मान्य करता है। जैनग्रन्थों भद्रा आदि सार्थवाहियों का उल्लेख मिलता है, जो पति के स्वर्गवास के पश्चात् अपने व्यवसाय का संचालन स्वयं करती थीं। अतः यह स्वाभाविक था कि जैनस्त्रियाँ वैधव्य के कारण न असम्मानित होती थीं और न असुरक्षित ही। यही कारण थे कि जैनधर्म में सती प्रथा को विकसित होने के अवसर ही नहीं मिले।

यद्यपि प्रो० काणे[1] ने अपने धर्मशास्त्र के इतिहास में सती प्रथा के कारणों का विश्लेषण करते हुए यह बताया है कि बंगाल में मेघातिथि स्त्री को पति की सम्पत्ति का अधिकार मिलने के कारण ही सतीप्रथा का विकास हुआ, किन्तु यदि यह सत्य माना जाये तो फिर जैनधर्म में भी सतीप्रथा का विकास होना था किन्तु जैनधर्म में ऐसा नहीं हुआ। स्त्री को सम्पत्ति का अधिकार मिलने की स्थिति में हिन्दू धर्म में स्त्री स्वयं सती होना नहीं चाहती थी अपितु सम्पत्ति लोभ के कारण परिवार के लोगों द्वारा उसे सती होने को विवश किया जाता है किन्तु अहिंसा प्रेमी जैनधर्मानुयायियों की दृष्टि में सम्पत्ति पाने के लिए स्त्री को आत्मबलिदान हेतु विवश करना उचित नहीं था, यह तो स्पष्ट रूप से नारी हत्या थी। अतः सम्पत्ति में विधवा के अधिकार को मान्य करने पर भी अहिंसा प्रेमी जैनसमाज सतीप्रथा जैसे अमानवीय कार्य का समर्थन नहीं कर सका। दूसरे, यह कि यदि वह स्त्री स्वेच्छा से दीक्षित हो जाती थी तो भी उन्हें सम्पत्ति का स्वामित्व तो प्राप्त हो ही जाता था। अतः जैनधर्म में सामान्यतया सतीप्रथा का विकास नहीं हुआ अपितु उसमें स्त्री को श्रमणी या साध्वी बनने को ही प्रोत्साहित किया गया। जैनधर्म में पति की मृत्यु के पश्चात् विधवा के लिए भिक्षुणी संघ का सम्मानजनक द्वार सदैव खुला हुआ था। जहां वह सुरक्षा और सम्मान के साथ-साथ आध्यात्मिक विकास भी कर सकती थी। अतः जैनाचार्यों ने विधवा, परित्यक्ता एवं विपदाग्रस्त नारी को भिक्षुणी संघ में प्रवेश हेतु प्रेरित किया, न कि सती होने के लिए। यही कारण था कि जैनधर्म में प्राचीन काल से लेकर आज तक श्रमणियों या भिक्षुणियों की संख्या भिक्षुओं की अपेक्षा बहुत अधिक रही है। यह अनुपात १ : ३ का रहता आया है।[2]

---

१. धर्मशास्त्र का इतिहास, काणे, भाग १ पृ० ३५२ २. कल्पसूत्र, १३४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुनः जैनधर्म में संलेखना (समाधिमरण) की परम्परा भी प्रचलित थी। अतः विधवा स्त्रियाँ गृहस्थ जीवन में रहते हुए भी तप-त्यागपूर्वक जीवन बिताते हुए अन्त में संलेखना ग्रहण कर लेती थीं। वस्तुपाल प्रबन्ध में वस्तुपाल की पत्नी ललितादेवी और तेजपाल की पत्नी अनुपमा देवी द्वारा अपने पतियों के स्वर्गवास के पश्चात् गृहस्थ जीवन में बहुत काल तक धर्माराधन करते हुए अन्त में अनशन द्वारा देहत्याग के उल्लेख हैं। किन्तु यह देहोत्सर्ग भी पति की मृत्यु के तत्काल पश्चात् न होकर वृद्धावस्था में यथासमय ही हुआ है। अतः हम कह सकते हैं कि जैनधर्म में सती प्रथा का कोई स्थान नहीं रहा है।

परवर्तीकाल में जैनधर्म में सतीप्रथा का प्रवेश

यद्यपि धार्मिक दृष्टि से जैनधर्म में सतीप्रथा को समर्थन और उसके उल्लेख प्राचीन जैन धार्मिक ग्रन्थों में नहीं मिलते हैं। किन्तु सामाजिक दृष्टि से जैन समाज भी उसी बृहद् हिन्दू समाज से जुड़ा हुआ था जिसमें सती प्रथा का प्रचलन था। फलतः परवर्ती राजपूत काल के कुछ जैन अभिलेख ऐसे हैं जिनमें जैन समाज की स्त्रियों के सती होने के उल्लेख हैं। ये सहवर्ती हिन्दू समाज का प्रभाव ही था जो कि विशेषतः राजस्थान के उन जैनपरिवारों में था जो कि निकट रूप से राज-परिवार से जुड़े हुए थे।

श्री अगरचन्दजी नाहटा ने अपने ग्रन्थ बीकानेर जैन लेख संग्रह में जैनसती स्मारकों का उल्लेख किया है।[1] वे लिखते हैं कि जैनधर्म की दृष्टि से तो सती-दाह मोहजनित एवं अज्ञानजनित आत्मघात ही है, किन्तु स्वयं क्षत्रिय होने से वीरोचित जाति-संस्कारवश, वीर राजपूत जाति के घनिष्ठ सम्बन्ध में रहने के कारण यह प्रथा ओसवाल जाति (जैनों की एक जाति) में भी प्रचलित थी। नाहटाजी ने केवल बीकानेर के अपने अन्वेषण में ही २८ ओसवाल सती स्मारकों का उल्लेख किया है। इन लेखों में सबसे प्रथम लेख वि० सं० १५५७ का और सबसे अन्तिम लेख वि० सं० १८६६ का है। वे लिखते हैं कि बीकानेर राज्य की स्थापना से प्रारम्भ होकर जहाँ तक सती प्रथा थी वह अविच्छिन्न रूप से जैनों में भी जारी थी। यद्यपि इन सती स्मारकों से यह निष्कर्ष निकाल लेना कि सामान्य जैन समाज में यह सती प्रथा प्रचलित थी उचित नहीं होगा। मेरी दृष्टि में यह सती प्रथा केवल उन्हीं जैनपरिवारों में प्रचलित रही होगी जो राज-परिवार से निकट रूप से जुड़े हुए थे। बीकानेर के उपर्युक्त उल्लेखों के अतिरिक्त भी राजस्थान में अन्यत्र ओसवाल जैनसतियों के स्मारक थे। श्री पूर्णचन्द्र नाहर ने भामाशाह के अनुज ताराचन्दजी कापड़िया के स्वर्गवास पर उनकी ४ पत्नियों के सती होने का सादड़ी के अभिलेख का उल्लेख किया है।[2] स्वयं लेखक को भी अपने गोत्र के सती-स्मारक की जानकारी है। अपने गोत्र एवं वंशज लोगों के द्वारा इन सती स्मारकों की पूजा, स्वयं लेखक ने भी होते देखी है। अतः यह स्वीकार तो करना होगा कि जैनपरम्परा में भी उधर मध्यकाल में सती प्रथा का चाहे सीमित रूप में ही क्यों न हो किन्तु प्रचलन अवश्य था। यद्यपि इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाल लेना चाहिए कि यह प्रथा जैनधर्म एवं जैनाचार्यों के द्वारा अनुशंसित थी, क्योंकि हमें अभी तक ऐसा कोई भी सूत्र या संकेत उपलब्ध नहीं है जिसमें किसी जैन ग्रन्थ में किसी जैनाचार्य ने इस प्रथा का समर्थन किया हो। जैन ग्रन्थ और जैनाचार्य तो सदैव ही विधवाओं के लिए भिक्षुणी संघ में प्रवेश की अनुशंसा करते रहे हैं। अतः परवर्ती काल के जो सती स्मारक सम्बन्धी जैन अभिलेख मिलते हैं वे केवल इस तथ्य के सूचक हैं कि सह-

---

१ बीकानेर जैन लेख संग्रह—भूमिका पृ० ९४-९९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वर्ती हिन्दू परम्परा के प्रभाव के कारण विशेष रूप से राजस्थान की क्षत्रिय परम्परा के ओसवाल जैन समाज में यह प्रथा प्रवेश कर गई थी। और जिस प्रकार कुलदेवी, कुलभैरव आदि की पूजा लौकिक दृष्टि से जैनधर्मानुयायियों द्वारा की जाती थी उसी प्रकार सती स्मारक भी पूजे जाते थे। राजस्थान में बीकानेर से लगभग ४० किलोमीटर दूर मोरखना सुराणी माता का मन्दिर है। इस मन्दिर की प्रतिष्ठा धर्मघोषगच्छीय पद्माणंदसूरि के पट्टधर नंदिवर्धनसूरि द्वारा हुई थी। ओसवाल जाति के सुराणा और दुग्गड़ गोत्रों में इसकी विशेष मान्यता है। सुराणी माता सुराणा परिवार की कन्या थी जो दूगड़ परिवार में ब्याही गई थी। यह सती मन्दिर ही है। फिर भी इस प्रकार की पूजा एवं प्रतिष्ठा को जैनाचार्यों ने लोकपरम्परा ही माना था, आध्यात्मिक धर्मसाधना नहीं। बीकानेर के सती स्मारक में दो स्मारक माता सतियों के हैं, इन्होंने पुत्रप्रेम में देहोत्सर्ग किया था, जो एक विशिष्ट बात है।

अतः निष्कर्ष रूप में हम यही कह सकते हैं कि जैनधर्म में धार्मिक दृष्टि से सती प्रथा को कोई प्रश्रय नहीं मिला क्योंकि वे सभी कारण जो सती प्रथा के प्रचलन में सहायक थे जैन-जीवन दृष्टि और संघ व्यवस्था के आधार पर और जैनधर्म में भिक्षुणी संघ की व्यवस्था से निरस्त हो जाते थे।

(शेष पृष्ठ ४६४ का)

(१३) णमोकार मन्त्र में उल्लिखित अर्हन्त-सिद्ध-आचार्य-उपाध्याय और साधु सभी सर्वोदयी हैं। धर्म-तीर्थ-प्रेमी है। पाँच पद उनके सर्वोदयी होने के कारण है। जैसे लोग एक सत्य को अनेक प्रकार से कहते हैं, जैसे एक व्यक्ति अन्य जनों से अनेक प्रकार सम्बन्धों की स्थापना किये है वैसे साधु, उपाध्याय, आचार्य, अर्हन्त, सिद्ध सभी उत्तरोत्तर उत्कर्ष लिए हैं। इनके अनुयायी जो श्रद्धा-ज्ञान-क्रियावान श्रावक हैं, वे भी सर्वोदयी विचारधारा लिये हैं। जैसे णमोकार मन्त्र व्यक्ति विशेष के लिये नहीं है। वैसे ही आचार्य मानतुंग का भक्तामर काव्य भी किसी विशेष एक व्यक्ति के लिये नहीं है। अहिंसा, अपरिग्रह, अनेकान्त, कर्मवाद, स्याद्वाद, अनीश्वरवाद, विश्वबन्धुत्ववाद भी किसी एक के लिये नहीं बल्कि अनेक के लिये है। जैनधर्म के सिद्धान्तों में सर्वत्र सर्वोदय की गूँज थी, है और रहेगी। आज इतना ही मुझे प्रस्तुत निबन्ध में लिखना है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org